॥ धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है ॥

आत्मधर्म

वर्ष तीसरा
अंक दसवां

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

माघ
२४७४

चारित्र

''पापरूप क्रियाओं की निवृत्ति को चारित्र कहते हैं। घातियाकर्म पाप हैं; मिथ्यात्व, असंयम और कषाय पाप की क्रियाऐं हैं। उन पाप क्रियाओं के अभाव को चारित्र कहते हैं।'' [श्री धवला टीका ग्रन्थ ६, पृष्ठ ४०]

विशेष—पापरूप क्रियाओं में शुभ और अशुभ दोनों भाव आ जाते हैं। शुभ और अशुभ दोनों भावों से घातियाकर्म का बन्ध होता है, और घातिया कर्म पाप हैं, इसलिये शुभाशुभभाव भी पाप हैं।

यहाँ पाप क्रियाओं में मिथ्यात्व का स्थान सर्व प्रथम बताया है, क्योंकि जगत के सर्व पापों में सबसे बड़ा पाप मिथ्यात्व ही है। सर्व प्रथम उस पाप को दूर करने के बाद ही असंयमादि दूर होते हैं।

जिस भाव से आत्मगुणों की शक्ति का घात होता है, वे भाव, पाप हैं। शुभभाव से भी आत्मगुण का घात होता है, इसलिये शुभभाव भी पापक्रिया ही हैं। उस पापक्रिया के अर्थात् शुभाशुभ भावों के अभाव को चारित्र कहते हैं। दृष्टि की प्रतीति के साथ जितने अंश में शुभाशुभ का अभाव हो, उतना चारित्र है।

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

शाश्वत सुख का मार्ग दर्शक मासिक पत्र ३४

छुटक अंक पांच आना

आ त्म ध र्म का र्या ल य — मो टा आं क ड़ि या — का ठि या वा ड़

आत्मधर्म
: वर्ष तीसरा : : अंक दसवाँ : क्रमांक ३४ : माघ : : २४७४ :

ज्ञानी स्थापित करता है, और अज्ञानी उन्मूलन करता है

क्रिया को स्थापित कौन करता है ?

१– शारीरिकक्रिया पुद्गलपरमाणुओं की अवस्था है, और परमाणु स्वतंत्रतया परिणमित होते हैं, अर्थात् वे शारीरिक अवस्थारूप होते हैं। आत्मा वास्तव में उसका कर्ता नहीं है। इस प्रकार ज्ञानीजन ही शारीरिकक्रिया को यथावत् स्थापित करते हैं।

२– पुण्यक्रिया जीव का विकारभाव है। उस क्रिया से आत्मा का अविकारी धर्म प्रगट नहीं होता, तथा वह क्रिया धर्म में सहायक नहीं होती। इस प्रकार ज्ञानीजन ही पुण्य की क्रिया को पुण्य की क्रिया के रूप में स्थापित करते हैं।

३– आत्मा की अविकारी क्रिया, धर्म है। वह क्रिया आत्मा के ही अवलम्बन से प्रगट होती है, उसमें किसी दूसरे का अवलम्बन नहीं है, तथा पुण्य की क्रिया से वह अविकारी क्रिया प्रगट नहीं होती। इस प्रकार ज्ञानी जन ही अविकारी क्रिया को भली भाँति स्थापित करते हैं।

क्रिया का उन्मूलन कौन करता है ?

१– शारीरिकक्रिया, आत्मा के द्वारा होती है, वह अपने आप–स्वतंत्र नहीं होती; ऐसा मान कर अज्ञानी जन ही शरीर की स्वतंत्र क्रिया का उन्मूलन करते हैं; क्योंकि वे पुद्गल परमाणुओं की स्वतंत्र क्रिया को स्थापित नहीं करते।

२– पुण्य–क्रिया अर्थात् शुभरागरूप विकारी क्रिया से धर्म होता है, अथवा उसके करते–करते धर्म होता है। यह मानकर अज्ञानी जन ही पुण्य की क्रिया का उन्मूलन करते हैं; क्योंकि पुण्य विकारी क्रिया है, तथापि वे उसे विकारी क्रिया के रूप में स्थापित नहीं करते।

३– आत्मा की अविकारी क्रिया, पुण्य करते–करते होती है, अथवा उसके लिये कोई परावलम्बन आवश्यक है, ऐसा मानकर अज्ञानी जन ही अविकारी क्रिया का उन्मूलन करते हैं क्योंकि पुण्य की अपेक्षा से रहित निरावलम्बी अविकारी क्रिया को वे स्थापित नहीं करते।

स्वभाव की भावना

हे आत्मन्! हे धर्ममूर्ति! जिसमें अमर्यादित गुण भरे हुऐ हैं, ऐसे तेरे गीत उमंग पूर्वक गाने को उद्यत हुआ हूँ; तेरी प्रीति, तेरी रुचि, और तेरी प्रतीति में, मैं आत्मा के गीत गाने निकला हूँ; उसमें भंग न पड़े, विघ्न न पड़े।

हे चैतन्य देव! तेरे गुणों की प्रीति में जागृत हुआ हूँ, अब चैतन्यभाव के अतिरिक्त अन्य किसी भाव का आदर न होने दूँगा—इस उत्तरदायित्व के साथ कह रहा हूँ कि हे जिन! तेरी प्रीति में और मेरे आत्मस्वभाव में भंग न पड़े। जो आत्मप्रीति जागृत हो गई है, उसमें अब से लेकर अनन्त काल तक विघ्न न आये।

हे आनन्दघन! तू तीर्थंकरों के कुल का है। तेरे कुल की यह टेक है कि जिस भाव को लेकर चल दिया, उस भाव से फिर पीछे न हटे। सम्यक्दर्शन प्रगट हो गया है, इसलिये अप्रतिहतरूप से केवलज्ञान प्राप्त करके ही रहना है, यही तेरे कुल की रीति है।

जिनके पवित्र आत्मा में शुद्ध सम्यक्दर्शनरूपी सुप्रभात हुआ है, वे भावना भाते हैं कि अहो! धन्य यह काल और धन्य यह घड़ी! मेरे आत्मा में केवलज्ञान प्रगट होने का प्रभात हो गया है। मेरे आत्मा को नमस्कार हो!

ऐसी भावना के द्वारा गृहस्थाश्रम में रहनेवाले सम्यक्दृष्टि जीव तथा संत-मुनि अपने आत्म-स्वभाव के प्रति उन्मुख हो जाते हैं, और अल्प काल में ही केवलज्ञान प्रगट करते हैं।

[इस प्रकार सुमंगल प्रभात में आचार्यदेव और ज्ञानीजन, स्वभाव के स्वचतुष्टय की भावना भाते हैं।]

चर्चा और व्याख्यान

[पूज्य श्री कानजी स्वामी द्वारा श्री समयसार गाथा १३ तथा श्री पद्मनंदिपंचविंशतिका के ऋषभजिनस्तोत्र पर दिये गये व्याख्यानों और तत्सम्बन्धी चर्चा का सार यहाँ दिया जा रहा है। इससे पूर्व आत्मधर्म के अंक ३० में २५ बातें प्रगट की जा चुकी हैं, उससे आगे का भाग यहाँ प्रगट किया जा रहा है।]

(२६) भक्ति की निःशंकता

श्री ऋषभदेव भगवान की भक्ति करते हुये आचार्य पद्मनन्दि अपनी निःशंकता की घोषणा करते हैं कि—मैं अब स्वर्ग का एक ही भव धारण करके मनुष्य हो कर मुक्ति प्राप्त करूँगा। हे नाथ! अब देव, मनुष्य के अतिरिक्त मेरा कोई दूसरा अवतार नहीं हो सकता। क्योंकि अब मैं आपकी शरण में आया हूँ, इसलिये अब नरक और तिर्यंचगति के लिये मेरी योग्यता नहीं रहीं। प्रभो! आपका परिचय करके आपकी भक्ति करनेवाले को भी निम्न गति में जाना पड़े, यह मैं नहीं मानता। मेरे लिये नरक और तिर्यंचगति के द्वार पर ताले ही लग चुके हैं, तथा देव और मनुष्य के भी अब अधिक भव नहीं हैं, अल्पकाल में ही चारों गतियों का अंत होनेवाला है, ऐसा मेरा सुदृढ़ निर्णय है, और मुझे प्रतीति हो चुकी है कि आपने अपने केवलज्ञान में भी ऐसा ही देखा है।

हे वीतरागदेव! जो सज्जन आपको ही नमस्कार करे और अन्य किसी कुदेवादि को न माने, उसके अवतार का अन्त हमें स्पष्ट दिखाई दे रहा है। जब कि आप भव रहित हैं, तब आपके भक्तों के भव हों, यह हो ही नहीं सकता। प्रभो! आपके अवतार न हो और यदि आपके भक्त को अवतार ग्रहण करना पड़े, तो आपकी भक्ति कौन करेगा? हे नाथ! जिन जीवों ने आपको सर्वज्ञ वीतराग के रूप में जगत से अलग समझा है, उन जीवों ने वास्तव में आत्मा के परिपूर्ण स्वभाव को ही समझ लिया है। और इस प्रकार जिसने आपके ही समान सम्पूर्ण स्वभाव को स्वीकार किया है, उसके भव नहीं हो सकता।

यदि धनिक की सेवा करके भी भूखा रहना पड़े तो उसकी सेवा कौन करेगा? इसी प्रकार हे नाथ! आप भवरहित हैं, यह जानकर आपकी सेवा करें और फिर भी भव बने रहें तो–ऐसी सेवा कौन करेगा। हमें तो आपकी भक्ति से भव रहितता की प्रतीति हो चुकी है, हमने कुदेवादि की सेवा नहीं की है, जिससे नरकादि गति धारण करना पड़े और पुण्यादि विकार में धर्म नहीं माना, जिससे अधिक भव धारण करना पड़े। हे नाथ! हमने तो वीतराग देव को पहिचानकर स्वीकार किया है, और वीतरागस्वभाव को स्वीकार किया है, इसलिये अब भव नहीं हो सकते।

पहले १८ वें कथन में बताया गया है। तद्नुसार यहाँ भी यह विशेष ध्यान रखना चाहिये कि वीतराग देव की भक्ति में वीतरागता ही पहिचान और बहुमान के द्वारा वीतराग स्वभाव की अपनी जो रुचि और भावना बढ़ती है, उसी के बल से भवरहितता नि:सन्देह होती है, किन्तु उस शुभराग के द्वारा आत्मा को वास्तव में लाभ नहीं होता। यदि राग और वीतरागता के बीच विवेकपूर्वक भक्ति हो, तब ही वह सच्ची भक्ति है, किन्तु यदि राग से ही लाभ मानें तो उसकी भक्ति सच्ची नहीं है।

(२७) कालद्रव्य और वस्तु स्वरूप

कालद्रव्य अनादि-अनन्त है; उसकी पर्याय के तीन भेद होते हैं, भूत, वर्तमान, भविष्य। जो काल व्यतीत हो गया है, वह भूतकाल; जो एक समय चल रहा है, वह वर्तमान काल; और और जो समय आने वाला है, वह भविष्यकाल कहलाता है। कालद्रव्य के जितने समय, उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें हैं।

भूतकाल के समयों की अपेक्षा, भविष्य काल अनन्त गुना अधिक है; ऐसा ही द्रव्य स्वभाव है। भूतकाल की अपेक्षा भविष्यकाल एक ही समय मात्र अधिक है, ऐसा मानना सो द्रव्य के स्वरूप की ही मूल में भूल है। भूतकाल की अपेक्षा भविष्यकाल को एक ही समय अधिक मानने का अर्थ यह हुआ कि जगत के समस्त द्रव्यों की जितनी पर्यायें हो गई हैं, उससे मात्र एक ही अधिक पर्याय होनी बाकी है। परन्तु यह बात यथार्थ नहीं है। भूतकाल में द्रव्य की जितनी पर्यायें हो चुकी हैं 'उससे अनन्त गुनी पर्यायें भविष्य में होने वाली हैं।'

यह बात स्वभाव से ही जम सकती है। इस सम्बन्ध में एक बुद्धिगम्य तर्क यह है कि संसार के काल की अपेक्षा सिद्धदशा का काल अनन्तगुना ही होता है। संसार के विकार भाव में मर्यादित पुरुषार्थ है, और सिद्धदशा के भाव में उससे अनन्तगुना अमर्यादित पुरुषार्थ है, उसका फल संसार के काल की अपेक्षा अनन्तगुने काल तक सिद्ध-सुख का उपभोग है। विकार की अपेक्षा स्वभाव का पुरुषार्थ अनन्तगुना है, इसलिये विकारदशा की अपेक्षा स्वभावदशा का काल भी अनन्तगुना है, अर्थात् भूतकाल की अपेक्षा भविष्य काल की पर्याय प्रत्येक द्रव्य में अनन्तगुनी है; यही द्रव्य की पूर्णता है। जो द्रव्य की पूर्णता के स्वरूप को नहीं समझ सकता, और द्रव्य के स्वरूप को समझने में ही जिसकी भूल हो, उसकी प्रत्येक प्रयोजनभूत विषय में भूल अवश्य होती है।

और फिर यदि भूतकाल की अपेक्षा भविष्य काल एक ही समय अधिक हो तो प्रति समय भविष्य काल में से एक एक समय भूतकाल में मिलता जाता है। इसलिये भूतकाल में भविष्यकाल

कम हो जाना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं है। क्योंकि अनन्तकाल के बाद भी भूतकाल की अपेक्षा भविष्यकाल तो अनन्तगुना ही रहनेवाला है।

(२८) सिद्ध जीव और सिद्ध समय

६ मास और ८ समय में ६०८ जीव सिद्ध (मुक्त) होते हैं। ६ मास और ८ समय के असंख्यात समय होते हैं, उनमें से जिन-जिन समयों में जीव सिद्ध हुए हों, उन समयों को 'सिद्ध समय' कहा जाता है, और जो समय खाली गये हों, उन समयों को असिद्ध समय कहा जाता है।

अनादि-अनंत काल में जितने सिद्ध समय हैं, उनकी अपेक्षा सिद्ध जीवों की संख्या संख्यात गुनी है। और सिद्ध जीवों की अपेक्षा असिद्ध समयों की संख्या असंख्यातगुनी है तथा सिद्ध समयों की अपेक्षा असिद्ध समयों की संख्या भी असंख्यात गुनी है। [देखिये श्री धवल ग्रन्थ भाग ३, पृष्ठ ३०]

(२९) राग-द्वेष कौन करता है ?

प्रश्न—राग-द्वेष-विकार जीव करता है, या स्वयं होता है ?

उत्तर—यदि जीव की पर्याय में स्वयं ही राग-द्वेष करे तो होता है, और यदि न करे तो नहीं होता।

प्रश्न—जब कि राग-द्वेष का कर्ता जीव है, तब क्या राग-द्वेष, जीव का स्वभाव है ?

उत्तर—जीव अपनी पर्याय की योग्यता से एक क्षण मात्र के लिये राग-द्वेष करता है, परन्तु जीव के त्रैकालिक स्वभाव में राग-द्वेष नहीं है, इसलिये स्वभावदृष्टि से जीव राग-द्वेष का कर्ता नहीं है। किन्तु जीव की पर्याय में जो राग-द्वेष होता है, उसे कहीं कोई जड़ कर्म इत्यादि नहीं करता; यदि उसे पर्याय में करे तो होता है।

कर्म की सत्ता के कारण राग-द्वेष नहीं होता। यदि कर्म के कारण राग-द्वेष हो तो जीव ने इसमें क्या किया। यदि कर्म ही रागादि करते हों तो जीव का नाश हो जाये।

प्रश्न—यदि कर्म, जीव को हैरान नहीं करता तो उसकी बात किसलिये की गई ?

उत्तर—जीव राग-द्वेष करता है, सो जीव का स्वभाव नहीं किन्तु विकार है। उस विकार में निमित्तरूप कर्म है, यह बताने के लिये कर्मों का वर्णन किया है, वे जीवों को हैरान करते हैं, ऐसा मानने के लिये नहीं।

(३०) एक मात्र सम्यक् दर्शन

अनन्त काल से संसार में परिभ्रमण करते हुए जीव ने एक क्षणभर को सम्यक् दर्शन की

प्राप्ति नहीं की, इसीलिये अनन्त संसार में परिभ्रमण हो रहा है। दया, दान, व्रत, इत्यादि के शुभभाव और हिंसा, झूठ चोरी इत्यादि के अशुभभाव भी अनंत बार किये, अनेक बार द्रव्यलिंगी मुनि हुआ तथा अनेक बार महा कसाई हुआ, किन्तु आत्मस्वभाव को यथावत् कभी नहीं जाना। और इसके बिना पुण्य-पाप तथा शरीरादि का मोह-अहंकार अंतरंग से दूर नहीं होता। यदि पुण्य-पाप और शरीर से विरुद्ध आत्मस्वभाव की रुचि करे तो पुण्य-पाप का अहंकार दूर हो। जगत को पुण्य में सुख का मिथ्या आभास होता है, और सम्यक्दर्शन का सच्चा सुख भासित नहीं होता। एक क्षणभर का सम्यक्दर्शन अनन्त जन्म-मरण का नाश कर सकता है।

प्रश्न—ऐसा सम्यक्दर्शन हमारी समझ में नहीं आता, इसलिये हमें क्या करना चाहिये ?

उत्तर—तुम्हारी समझ में सांसारिक बातें तो आ जाती हैं किन्तु आत्मा की बात समझ में नहीं आती ? यदि आत्मा का स्वरूप समझ में नहीं आता तो संसार का चक्कर लगाना होगा, इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं। यदि सम्यक्दर्शन के बिना पुण्य करे तो भी उसमें संसार का ही दु:ख है। यदि स्वभाव से आत्मा की महिमा करे तो अवश्य समझ में आये। आत्मस्वभाव पुण्य-पाप रहित है, ज्ञानस्वरूप है, ऐसी श्रद्धा करने पर पुण्य-पाप की महिमा हट जायेगी और पुण्य-पाप रहित पूर्ण स्वभाव के मानने से पूर्ण स्वतंत्र दशा प्रगट होगी।

(३१) अहिंसा

'अन्य जीव को न मारना, सो अहिंसा है' यह परिभाषा ठीक नहीं है, किन्तु अज्ञान और विकारभावों से अपनी आत्मा को बचाना ही सच्ची अहिंसा है। विकारभावों से अपने आत्मा का घात होता है, वही हिंसा है, और सम्यक्ज्ञानादि के द्वारा उस विकारभाव का नाश करना ही अहिंसा है।

विकार और भवरहित जैसा अपना स्वभाव है, वैसा अनुभव में आये तो उसे ऐसी नि:शंकता हो जाती है कि अब जन्म ग्रहण नहीं करना पडेगा। यह अंतरंग से समझने की बात है, बाहर से या शुभभावों से यह बात समझ में नहीं आ सकती।

(३२) स्वभाव की महिमा

समयसार में आचार्य ने सम्यक्दर्शन की महिमा बताई है। यह जीव अनन्तकाल से अनन्त भवों से सच्चे स्वभाव की बात कभी नहीं समझा। शरीर जड़ है, उसका कर्ता आत्मा नहीं है। पुण्य-पाप के अहंकार के कारण ज्ञातास्वभाव की महिमा और प्रतीति नहीं आती। स्वभाव की महिमा के

बिना सम्यक्दर्शन नहीं होता और सम्यक्दर्शन के बिना मोक्ष का उपाय नहीं होता।

(३३) सुख-दुःख का विवेक

मक्खी भी फिटकरी और मिश्री के स्वाद को परखकर फिटकरी को छोड़ देती है, और मिश्री पर बैठती है, क्योंकि उसे मिश्री का स्वाद अच्छा लगता है, जब मक्खी भी अपने तुच्छ ज्ञान द्वारा इस प्रकार का भेद (परख) कर सकती है, तब फिर जिनमें हिताहित का विवेक करने की ज्ञान-शक्ति है, ऐसे मनुष्य, स्वभाव और विकार के स्वाद में भेद क्यों नहीं कर पाते? स्वभाव का स्वाद निराकुल है और विकार का स्वाद दुःखदायक आकुलतामय है। पाप का रस तीव्र दुःखरूप है, और पुण्य का रस भी दुःख ही है। आत्मा का स्वाद उन दोनों से भिन्न प्रकार का-सुखरूप है। जैसे समुद्र के पानी में रहनेवाली मछली को बाहर धरती पर आने में दुःख होता है, और अग्नि में गिरने से अत्यंत दुःख होता है, इसी प्रकार अनाकुलस्वरूप ज्ञानसमुद्र आत्मानुभव से बाहर निकलकर शुभभाव में आना, मछली का पानी से बाहर निकलकर जमीन पर आने के दुःख समान है, और अशुभभाव में जाना मछली के अग्नि में गिरने के समान अत्यंत दुःखरूप है। इस प्रकार पुण्य-पाप दोनों से रहित त्रिकाल ज्ञानस्वरूप आत्मा की प्रतीति करना ही सम्यक्दर्शन है।

(३४) सम्यक्दर्शन कैसे हो ?

सम्यक्दर्शन का स्वरूप समझाते हुऐ श्रीगुरु कहते हैं कि—हे शिष्य! त्रिकाल एकरूप ज्ञानमयभाव ही तेरा स्वभाव है। क्षणिक पर्याय में भले ही विकार हो किन्तु तेरा वह वास्तविक स्वरूप नहीं है। इसलिये तू पर्यायदृष्टि छोड़कर द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से अनुभव कर; इससे तुझे अपना शुद्ध स्वभाव प्रतीति में आयेगा और सम्यक्दर्शन प्रगट होगा। ज्ञानियों को साधकदशा में विकारभाव होता है, किन्तु वह क्षणिक अभूतार्थ है, ऐसा ज्ञानीजन जानते हैं, इसलिये उन्हें उसका कोई महत्व नहीं होता, किन्तु उनके मन में निर्विकार भूतार्थ स्वभाव का ही महत्व होता है। जितना भाव स्वभाव में से प्रगट होता है, उतना ही भाव मेरा है, किन्तु स्वभाव से हटकर परलक्ष से जो भी विकारभाव प्रगट होता है, वह मेरा भाव नहीं है, इस प्रकार ज्ञानी को स्वभावभाव और विकारभाव के बीच भेदज्ञान होता है, यही सम्यक्दर्शन है। धर्म तो धर्मी आत्मा में है, उस आत्मा को यथार्थतया जानना ही सम्यक्दर्शन है। जो स्वप्न में भी एकत्रित नहीं है, ऐसे शरीरादि के काम तथा विकारी भाव करना सरल मालूम हों और उनमें उत्साह प्रतीत हो, किन्तु यदि पर से और विकार से भिन्न चैतन्यस्वभाव को नहीं जाना और उस ओर का उत्साह नहीं हुआ तो फिर स्वप्न में भी ऐसे

सुयोग से भेंट नहीं होगी। और यदि चैतन्य के प्रति महिमा करके, उसे जान लिया तो कृतकृत्य होकर उत्कृष्ट स्वरूपाराधन करके अल्पकाल में ही सिद्ध हो जायेगा।

ज्ञान-चर्चा से थका हुआ कोई मनुष्य **प्रश्न** करता है कि आपने कहा है कि जीवादिक नव तत्त्वों को जानना और उनसे परे आत्मा की श्रद्धा करना सम्यक्दर्शन है। किन्तु यह तो कठिन मालूम होता है, इसलिये यदि इतनी ही श्रद्धा रखी जाये कि आत्मा चैतन्य है तो सम्यक्दर्शन होगा या नहीं? श्रीगुरु **उत्तर** देते हैं कि इतने मात्र से सम्यक्दर्शन नहीं हो सकता, क्योंकि इतना तो अन्य मतावलम्बी भी मानते हैं, इसलिये पहले यथार्थतया नव तत्त्वों को जानकर उनमें से शुद्ध जीवतत्त्व की प्रतीति से ही सम्यक्दर्शन होता है। हे भाई! संसार के अनेक कार्यों में अपनी चतुराई बतलाते हो और उन्हें अनेक प्रकार से समझने के लिये अधिक से अधिक समय लगा देते हो, और इधर आत्मतत्त्व की अपूर्व बात को समझने में कहते हो कि यह कठिन मालूम होता है; इस प्रकार पुरुषार्थ हीन होना योग्य नहीं है। मात्र 'मैं चैतन्य हूँ' इतना ही मानकर थककर बैठ जाने से काम नहीं चलेगा, किन्तु सब ओर से ज्यों का त्यों निर्णय करना होगा। सब ओर से निर्णय करके शुद्ध चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा करना, सो सम्यक् दर्शन है।

(३५) पुरुषार्थ

सम्यक्दृष्टि जीव पूर्ण स्वभाव को स्वीकार करते हैं, पूर्ण स्वभाव के बल से वे पुरुषार्थ की वृद्धि ही देखते हैं। जब काल पक जायेगा, तब मुक्ति होगी—ऐसी पराधीन दृष्टि नहीं है, किन्तु समय-समय पर स्वभाव के बल से पुरुषार्थ की वृद्धि ही करते हैं, जिससे निर्मलता बढ़ती जाती है। इस प्रकार वे स्वभावदृष्टि से वृद्धिंगत ही हैं, जिससे अल्प काल में पुरुषार्थ पूर्ण करके मोक्ष प्राप्त करते हैं। ज्ञानी की दृष्टि काल या कर्म पर नहीं, किन्तु स्वभाव पर ही है। कर्म किसी भी जीव के लिये बाधक नहीं होते।

(३६) परमात्मा की स्थापना

श्री पद्मनंदि आचार्य कहते हैं कि प्रभो! यदि आदरणीय है, तो आप जैसा वीतराग स्वरूप ही है। ऐसी प्रतीतिपूर्वक दोनों हाथ जोड़कर जो आपके चरणों की भक्ति करते हैं, उनके मोक्षदशा ही है, क्योंकि उन्होंने अंतरंग से वीतरागता का ही बहुमान किया है।

जिन्होंने राग और आत्मा को पृथक् करके परमात्मदशा प्रगट की है, ऐसे भगवान को नमस्कार करनेवाला जीव भी आत्मा और राग की पृथकता की प्रतीति वाला है, उस जीव को

संसार की समस्त गतियों का अन्त निकट है। जिसने वीतराग सर्वज्ञ को यथार्थ जान लिया और उनकी भक्ति की, उसने अपने आत्मकमल में वीतराग भगवान की स्थापना की है, उसके हृदय में निरन्तर प्रभु ही प्रभु समाये रहते हैं। जिसने वीतराग देव के आत्मा को अपने स्वभावरूप जाना है, उसी की यह बात है। जिसने परमात्मा को यथार्थभाव से जान लिया है, उसने अपने हृदय में परमात्मापन की स्थापना की है। जिस दशा को परमात्मा ने प्राप्त किया है, उसी दशा को वह भी प्राप्त करेगा। तीन काल और तीन लोक में भी सती स्त्री दूसरे को नहीं चाहती; इसी प्रकार हे नाथ! हम आपके भक्त हैं, वीतरागता के उपासक हैं, हम राग को आदरणीय नहीं मानते; हमें आपके अतिरिक्त दूसरे के प्रति आदर नहीं है, दूसरा कोई देव अब हमें लालच में नहीं डाल सकता। पुत्र या पैसे के लोभ में आकर या किसी भी प्रकार से हम कुदेवादि के चक्कर में नहीं पड़ेंगे; भले ही प्राण चले जायें किन्तु आपको छोड़कर दूसरे को नहीं मानेंगे। हे नाथ! हमारे हृदय में आप जैसे वीतराग देव का निवास है, इसलिये अब हमारे आत्मा में वीतरागता ही बस गई है। अब राग को तोड़कर हम स्वयं ही वीतराग हो जायेंगे। त्रिकाल स्वभाव के आदर में अब राग का आदर नहीं रहा।

हे जिनेन्द्र! आप वीतराग हैं, हम आपके चरण कमलों की सेवा कैसे करें? हम आपको सम्पूर्ण चैतन्य में ही पिरोये देते हैं; अब हमारे आत्मा में केवलज्ञान प्रगट हो जायेगा। राग नहीं रह सकेगा; इस प्रकार सम्यक्दृष्टि भक्तों को आत्मा के असंख्य प्रदेशों में उल्लास होता है और वे अपने आत्मा में प्रभुता की स्थापना करते हैं।

हे नाथ! जिन भव्य जीवों ने आपकी पहिचान कर, आपके चरणों में मस्तक झुका कर नमस्कार किया है, उनका मस्तक अब दूसरों को नहीं नम सकता। क्योंकि आपके चरणों में जिसका मस्तक नम चुका है, उस पर मोह-धूलि का कोई वश नहीं चल सकता, अर्थात् जो आपको यथार्थतया पहिचान कर नमस्कार करता है, उसका मोह अवश्य दूर हो जाता है।

(३७) वीतराग देव के प्रति भक्त का समर्पण

हे नाथ! आश्चर्य है कि जगत के मोहान्ध जीव अपने मृत स्नेही जनों के चित्र रखते हैं, और बड़े ही चाव से उनके दर्शन करते हैं, वे हड्डी, चमड़े के प्रति रुचि-प्रेम रखते हैं, किन्तु परम कल्याणकारी श्री वीतराग देव के वर्तमान में साक्षात् न होने पर उनकी प्रतिमा इत्यादि के प्रति बहुमान, आदर या समर्पणता का उत्साह नहीं होता। ऐसे जीव, भगवान के भक्त नहीं किन्तु संसार के ही भक्त-मिथ्यादृष्टि हैं। जिसे निस्पृह वीतरागस्वभाव की प्रतीति; उत्साह और प्रीति हो, उसे

वीतराग स्वभाव प्रभु की भक्ति और समर्पणता की उमंग हुये बिना नहीं रहती।

(३८) अपने परिणामों का विवेक

'पुण्य से धर्म नहीं होता और आत्मा, परवस्तु का कुछ नहीं कर सकता,' इस प्रकार निश्चयस्वभाव की बात सुने, किन्तु पर्याय में भूमिका के अनुसार रागादि का विवेक न करे तो वह अज्ञानी है। जिसे स्वभाव की यथार्थ प्रतीति हो, उसे पर्याय के भाव का विवेक अवश्य होता है। जिसे लग्न आदि के अवसर पर उल्लास होता है, किन्तु देव, गुरु, धर्म की प्रभावना के अवसर पर उमंग नहीं होती, वह तीव्र संक्लेश परिणामी हैं। इसमें देव-गुरु-शास्त्र के लिये कुछ नहीं करना है, किन्तु अपने परिणामों को सुधारने के लिये ही यह बात है।

(३९) पूर्ण पवित्र दशा के प्रति बहुमान

श्री विमलनाथ भगवान तीसरे भव में राजा थे, जब उन्होंने केवली भगवान श्री सर्वगुप्त के मुख से यह सुना कि अब उनके दो ही भव शेष रहे हैं, और तीसरे भव में तीर्थंकर होकर मोक्ष जाना है तो उन्हें अत्यन्त उत्साह हो आया, और उसी भव में (तीर्थंकर होने से पूर्व ही) तीर्थंकर के समान महोत्सव रचा और पंच कल्याण किये। उन्होंने सोचा कि मैं जब तीर्थंकर होऊंगा, तब मेरा महोत्सव इन्द्र इत्यादि तो करेंगे ही किन्तु अभी मैं ही अपनी पूर्ण दशा का महोत्सव क्यों न कर लूं! इस प्रकार वे पूर्ण होने की भावना से उछल पड़े, कि—मेरी पूर्ण पवित्र दशा प्रगट होगी, इससे बढ़कर उत्तम मंगल दूसरा क्या हो सकता है? उस समय उन्हें आत्मप्रतीति थी और उन्होंने पूर्णदशा के हर्ष में उस समय अपने राज्य में पंचकल्याणक महोत्सव बड़ी धूमधाम से करवाया। इस प्रकार ज्ञानियों को अपनी पूर्ण दशा के सुनने पर उमंग होती है, और वह भविष्य की पूर्णता को भावपूर्वक निकट लाकर उसका बहुमान करता है, और इस प्रकार पूर्णता के प्रति अपने पुरुषार्थ को बढ़ाता है।

(४०) संसार-चक्र

पापों में सबसे बड़ा पाप मिथ्यात्व है। अनन्त संसार में परिभ्रमण करता हुआ मिथ्यादृष्टि जीव अनन्त बार पंच-महाव्रतधारी द्रव्यलिंगी मुनि हुआ और वहाँ से परिभ्रमण करता हुआ वही जीव घोर कसाई हुआ। यदि तत्त्व की यथार्थ बात को न समझेगा तो संसार चक्र में पुनः इसी प्रकार परिभ्रमण करना होगा। नव तत्त्वों को न जाने और उनसे परे आत्मा को न माने तथा पुण्यादि में धर्म मानकर उसमें अभिमान करे, ऐसा जीव, दयादि का पालन करके स्वर्ग में जाये तो भी वहाँ से निकलकर संसार चक्र में परिभ्रमण करता हुआ, पुनः अनन्तबार कसाई होगा और नरक, निगोदादि

में अनन्त काल व्यतीत करेगा। नवमें ग्रैवेयक तक ले जानेवाले शुभभाव और सातवें नरक में ले जानेवाले अशुभभाव-दोनों आस्रव हैं, इसलिये एक ही प्रकार के हैं। निगोद के जीव के भी अल्प शुभभाव होता है, उसका और द्रव्यलिंगी मुनि का, शुभभाव एक ही प्रकार का है। मिथ्यादृष्टि जीव, पुण्यास्रव को अच्छा और पापास्रव को बुरा मानता है, यही मिथ्यात्व है। पुण्य-पाप दोनों आस्रव हैं, इसलिये दु:खदायक हैं। आत्मप्रतीति के बिना शुभ-अशुभभावों के द्वारा ही संसार चक्र चल रहा है।

(४१) भगवान का श्रीमंडप

सम्यक्दर्शन के स्वरूप को समझकर आत्मा के जन्म-मरण का अंत हो जाये, ऐसा कार्य करना चाहिये, यही मंगल है। पात्र होकर भगवान के श्रीमंडप में आये और आत्मस्वरूप समझे बिना यों ही लौट जाये, ऐसा नहीं हो सकता। भवरहित भगवान को पहिचान कर जिज्ञासा भाव से भगवान के श्रीमंडप में आया और उसका मोक्ष न हो, ऐसा ज्ञानी जन नहीं मानते। जो जीव, आत्मस्वरूप को समझ ले, वह अवश्यमेव सम्यक्दर्शन प्राप्त करके एकावतारी की भांति महाकार्य कर जाता है।

(४२) सम्यक्दर्शन कैसे हो ?

श्री समयसार की तेरहवीं गाथा में कहा गया है कि—

भूयत्थे णा भिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावंच।
आसव संवर निज्जर वंधो मोक्खो य सम्मतं॥१३॥

अर्थ:—भूतार्थनय से ज्ञात जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष तथा पुण्य और पाप-यह नवतत्त्व सम्यक्त्व हैं।

यहाँ नवतत्त्वों को भूतार्थनय से जानने को सम्यक्दर्शन कहा है। अर्थात् पहले नवतत्त्वों को यथार्थतया यथावत् जानना चाहिये, परंतु उनके जानने मात्र से ही सम्यक्दर्शन नहीं हो जाता। नवतत्त्वों को जानने के बाद उनके विकल्प को छोड़कर एक शुद्धात्मा को ही प्रतीति में लेना भूतार्थनय है, और इसी से सम्यक्दर्शन होता है।

नवतत्त्वों को, यथावत् जानना, सो व्यवहार है। किन्तु जो शरीर को आत्मा, पुण्य को धर्म और संवर-निर्जरा को कष्टदायक मानता है, उसे एक भी तत्त्व की खबर नहीं है। यहाँ उसकी बात नहीं है, किन्तु यहाँ तो यह कहा है कि नवतत्त्वों की यथार्थ प्रतीति भी वास्तविक सम्यक्दर्शन नहीं

है, क्योंकि आत्मा एक अखंड है; उसे नव भेदों के द्वारा मानना, सो मिथ्यात्व है, और नवतत्त्व के विकल्पों से परे एक अखंड स्वभाव से आत्मा को प्रतीति में लेना, सो यही निश्चय सम्यक्दर्शन है। जो नवतत्त्व ज्ञात होते हैं, उन सबको जाननेवाला स्वयं नव भेदों से रहित एक मात्र चैतन्यस्वरूप है। इस प्रकार यदि राग से कुछ अलग होकर, रागरहित चैतन्य की प्रतीति करे तो सम्यक्दर्शन है।

ज्ञान का स्वभाव जानना है, उसकी जगह नव तत्त्व का विकल्प करके राग में अटक जाये तो मिथ्यात्व है। राग का स्वभाव जानने का नहीं है। जीव, अजीव आदि को जाननेवाला ज्ञान है। यदि वह ज्ञान नव भेदों के जानने में ही लगा रहे और भूतार्थ स्वभाव की ओर न ढले तो सम्यक्दर्शन नहीं होता। भूतार्थतया नवतत्त्वों में एक आत्मा ही प्रकाशमान है, ऐसा ज्ञानी जन जानते हैं। भूतार्थ - स्वभाव को जानकर, पर्याय को भी जान लेना ज्ञान का स्वभाव है। भूतार्थस्वभाव को जानना, सो निश्चय और पर्याय को जानना, व्यवहार है।

'मैं जीव हूँ'-ऐसा राग, और 'मैं अजीव नहीं हूँ'-ऐसा द्वेष-दोनों को ज्ञान जाननेवाला है, इस प्रकार नवतत्त्वों में एक मात्र आत्मस्वभाव ही प्रकाशवान है।

हे शिष्य! ज्ञानस्वरूप आत्मा के भाव में रागमिश्रित नवतत्त्वों को जाना, और वहाँ स्वसन्मुख होने पर उन नवतत्त्वों के विकल्प छूटकर ज्ञान की स्वोन्मुखता में अकेला आत्मा ज्ञात होता है, उसकी प्रतीति ही निश्चय सम्यक्दर्शन है।

(४३) आत्मार्थी कैसा होता है ?

देव, गुरु, धर्म के प्रति जिनकी रुचि तथा भक्ति नहीं है और जो मात्र संसार पापों में ही लीन रहते हैं, वह तो अत्यन्त दु:खी हैं। पाप परिणाम तो विष की भाँति अत्यन्त कष्टदायक हैं, और दया, दान, इत्यादि पुण्यभाव कम कष्टदायक हैं। किन्तु दयादि के शुभभावों से धर्म मानने में तो मिथ्यात्व का अनन्त दु:ख है। जो आत्मार्थी जीव होते हैं, उनकी लक्ष्मी इत्यादि की रुचि छूट जाती है, और संसार सम्बन्धी उल्लास भाव छूटकर सत् स्वभाव के प्रति उल्लास होता है। तथा स्वभाव के प्रति बहुमान होने पर सत् की प्रभावना का भाव होता है कि अहो! ऐसे सत् स्वभाव का जगत में प्रचार हो, मैं सत् की प्रभावना के हेतु अपना सर्वस्व समर्पित कर दूं, यदि मेरा तन, मन, धन सत् की प्रभावना में काम आये तो मैं अपने को धन्य समझूं। इस प्रकार स्वभाव के प्रति सच्चा उल्लास हो, तब वह आत्मार्थी कहलाता है, अर्थात् उसे अभी धर्म प्राप्त करने की पात्रता प्रगट हुई है। तत्पश्चात् स्वभाव की रुचि और उसका अभ्यास करे और उसी का श्रवण मनन करके यथार्थ परिचय एवं

प्रतीति करे, तब सम्यक्दर्शन रूपी अपूर्व आत्मधर्म प्रगट होता है।

जिसे आत्मा की रुचि, और उसके प्रति बहुमान हो, उस जीव को सच्चे देव, गुरु, धर्म के प्रति उल्लास और सत् प्रभावना का भाव हुऐ बिना नहीं रह सकता। आत्मा की रुचि होने पर भी पूर्ववत् विषय-कषाय किया करे, ऐसा नहीं हो सकता। जिज्ञासु जीव के विषय-कषायादि की तीव्र लीनता दूर होकर देव-गुरु-धर्म के प्रति राग होता है, किन्तु वह राग से धर्म नहीं मानता।

यदि सच्चे देव-गुरु-धर्म के प्रेम से स्त्री, कुटुम्ब, शरीरादि का प्रेम अधिक हो तो वह पाप-परिणामयुक्त मिथ्यादृष्टि है।

यदि आत्मस्वभाव की रुचि से देव, गुरु, शास्त्र की और तत्सम्बन्धी राग की प्रीति अधिक हो तो वह परिणामयुक्त मिथ्यादृष्टि है।

(४४) भक्त की भावना कैसी होती है ?

जैसे भगवान परिपूर्ण दशा को प्राप्त हुए हैं, वैसे ही मैं भी अपनी शक्ति से परिपूर्ण स्वरूप हूँ, मेरी शक्ति में से ही, मेरी पूर्ण दशा प्रगट होनेवाली है; इस प्रकार भगवान का भक्त, आत्मा को पहिचाननेवाला होता है, किन्तु वह भगवान से कोई आशा नहीं रखता। हे नाथ! हे वीतराग परमात्मन्! आपने रागादि को दूर करके सत् स्वरूप प्रगट किया है, आप अपने स्वभाव से भगवान हुऐ हैं, इसी प्रकार मैं भी अपने स्वभाव की प्रतीति से भगवान होनेवाला हूँ। प्रभो! आप विकार और भवरहित हैं, इसी प्रकार मेरा भी यही स्वरूप है। अविनाशी स्वभाव में स्थिर रहकर आपने नाशवान भावों का नाश करके पूर्णपद प्रगट किया है, इसी प्रकार हे नाथ! मैं भी स्वभाव की प्रतीति-पूर्वक, इन नाशवान भावों का नाश करके अविनाशी पद को प्रगट करने का इच्छुक हूँ। आपने जैसी पूर्णता प्रगट की है, वैसी ही पूर्णता प्रगट करने के लिये मेरा आत्मा भी योग्य है, किन्तु अभी वैसी पूर्णता प्रगट नहीं हुई; इसलिये पूर्णता के प्रति रुचि होने से स्तुति का विकल्प उठा है। ऐसी प्रतीति के साथ ज्ञानी की भक्ति होती है।

(४५) आत्मा की अचिंत्यता

शुद्धस्वरूप की भावनावाला भगवान का भक्त कहता है कि हे जिनेन्द्रदेव! आप सर्व प्रकार शुद्ध हैं, अचिंत्य हैं। आपके स्वरूप का चिंतवन, मन और वाणी द्वारा किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। मन, वाणी, देह अथवा पुण्य के विकल्पों से शुद्धात्मा का चिंतवन नहीं हो सकता; किन्तु इससे परे शुद्धात्मस्वरूप आपने प्रगट किया है। हे नाथ! अभी मेरा ज्ञान अपूर्ण है-अल्प है, उस

अल्प ज्ञान द्वारा केवलज्ञानादिक सम्पूर्ण ज्ञान नहीं होते,—यह समझकर भक्तजन केवलज्ञान की भावना करते हैं। आत्मा का स्वभाव कल्पना में नहीं आ सकता। कल्पना तो राग है, राग के द्वारा, अरागी स्वभाव प्रतीति में नहीं आता। इस प्रकार स्वभाव और राग के बीच भेद करके भक्तजन, स्वभाव का माहात्म्य प्रगट करते हैं। आत्मा को अचिंत्य कहा है, अर्थात् मन-वाणी और देह से अथवा विकल्प से उसका चिंतवन नहीं हो सकता किन्तु ज्ञान के द्वारा चैतन्य का चिंतवन हो सकता है। जो ऐसे अचिंत्य स्वभाव को जानता है, वही भगवान की अचिंत्य भक्ति करता है। जिसने अचिंत्य आत्मा की महिमा को जान लिया, वह स्वयं भी अचिंत्य ही है। (क्रमशः)

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

किस भाव से धर्म होता है और किस भाव से अधर्म ?

[पंचास्तिकाय गाथा ५६ पर पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन]

मंगलाचरण के रूप में पारिणामिकभाव की महिमा

इस गाथा में जीव के पाँच भावों का वर्णन है। आत्मा में पाँच भाव हैं। शरीर इत्यादि जड़ वस्तु हैं, उस जड़ की अवस्था उसका भाव है। जड़ के भाव जड़ में होते हैं और आत्मा के भाव आत्मा में होते हैं। यहाँ आत्मा के भावों की बात है। आज समोशरण में श्री सीमंधर भगवान और श्री कुंदकुन्दाचार्यदेव की प्रतिष्ठा का मांगलिक दिन है, (स्मरण रहे कि यह प्रवचन स्वर्णपुरी में होने वाले श्री समवशरण जिन प्रतिष्ठा महोत्सव के पुण्य प्रसंग पर वैसाख कृष्णा ६ वीर सं. २४७३ के दिन किया गया था) इसलिये व्याख्यान में मंगलाचरण के रूप में जीव के पाँच भावों में से पारिणामिकभाव का वर्णन सर्व प्रथम किया जा रहा है।

जीव को धर्म करना है किन्तु यह समझे बिना धर्म नहीं हो सकता कि जीव के भाव कौन-कौन से हैं और उनमें से किन भावों से धर्म होता है। आत्मवस्तु में पाँच प्रकार के भाव हैं, इन पाँच प्रकार के भावों में अनादि-अनन्त समस्त आत्माओं का वर्णन आ जाता है। यदि इन पाँच भावों के स्वरूप को समझे तो धर्म-अधर्म का विवेक हो। उन पाँच भावों का स्वरूप समझे बिना धर्म-अधर्म नहीं समझा जा सकता।

पारिणामिक, औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक, यह पाँच भाव आत्मा के हैं। इन पाँच भावों में से जो पारिणामिकभाव है, सो द्रव्यस्वभाव है। उदयादि चार भाव

पर्यायस्वरूप हैं, एक समयमात्र के हैं, और पारिणामिकभाव द्रव्यस्वभावरूप है, त्रिकाल एकरूप है। आत्मा का सत्तारूप त्रिकालस्वभाव पारिणामिकभाव है। जिसे धर्म करना हो, उसे आत्मा के इन पाँच भावों को जानना चाहिये। यदि जीव ने पहले कभी धर्म किया होता तो उसकी ऐसी संसार दशा नहीं होती। किन्तु पहले कभी धर्म को नहीं समझा, इसलिये अज्ञानभाव से परिभ्रमण कर रहा है। सूक्ष्मरूप से तो आत्मा में अनन्त प्रकार के भावों को पाँच प्रकार के भावों में वर्णित किया है। इन पाँच प्रकार के भावों को समझने से जीव को धर्म-अधर्म का विवेक हो जाता है। उसमें सर्व प्रथम मंगलाचरण के रूप में पारिणामिकभाव का वर्णन करते हैं।

आत्मा त्रिकाल एकरूप निरपेक्षस्वरूप है, जो पारिणामिकभाव है। शरीर-मन-वाणी से परे, राग-द्वेष से परे और निर्मल अवस्था की अपेक्षा से भी परे, आत्मा का निरपेक्ष स्वभाव है; विकार करने से वह स्वभाव कम नहीं हो जाता और अविकार पर्याय करने से वह स्वभाव बढ़ नहीं जाता-ऐसा जो स्वभावभाव सदा एकरूप है, सो पारिणामिकभाव है। इस पारिणामिकभाव को जानने से-मानने से सम्यक्दर्शन होता है; यही महा मंगल है।

आत्मा के पारिणामिकस्वभाव में पर का सम्बन्ध नहीं है, विकार का सम्बन्ध नहीं है, और जो शुद्धपर्याय प्रगट होती है, उसकी अपेक्षा भी नहीं है। अनादि-अनन्त आत्मा के अस्तित्व की शक्तिवाला स्वभावभाव पारिणामिकभाव है। पाँच भावों में अनादि-अनन्त आत्मस्वरूप ज्ञात हो जाता है। उन पाँच भावों में से सर्व प्रथम पारिणामिकभाव का वर्णन करने का कारण यह है कि इस भाव को जाने बिना जीव ने अनादि काल से सबकुछ किया है, किन्तु अपने स्वभाव सामर्थ्यरूप त्रैकालिक पारिणामिकस्वभाव को नहीं जाना। इस पारिणामिकस्वभाव को जाने बिना जीव अनादि काल से जो कुछ भी भाव करता है, सो विकार है, अधर्म है; उसे औदयिकभाव कहते हैं। उस पारिणामिकभाव को जीव जाने तो उसके लक्ष से औपशमिक इत्यादि भाव प्रगट हों, जो कि धर्म है।

आत्मा के त्रिकाल स्वभाव को धर्म या अधर्म की अपेक्षा नहीं होती। अनादि काल से जीव अधर्मभाव कर रहा है, इसलिये कहीं त्रैकालिक स्वभाव का नाश नहीं हो गया है, और धर्मभाव करता है, इसलिये वह कहीं नया प्रगट नहीं होता। जो नवीन प्रगट होते हैं, सो औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव हैं। पारिणामिकभाव त्रिकाल है, उसमें प्रगट होने या नाश होने की अपेक्षा नहीं है। उस भाव के लक्ष से धर्मदशा नवीन प्रगट होती है, परन्तु वह भाव स्वयं नवीन प्रगट

नहीं होता, वह तो सदा पूर्ण एकरूप है। ऐसा पारिणामिकस्वभाव त्रिकाल एकरूप सभी आत्माओं में है। सभी आत्माओं का पारिणामिकभाव एक सा है। पुद्गल इत्यादि समस्त पदार्थों में पारिणामिकभाव है। वस्तु का अस्तित्वरूप होनेवाला, सत्तावाला, निरपेक्ष त्रिकाल स्वभाव पारिणामिकभाव है। ऐसे वस्तुस्वभाव को जाने बिना सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान नहीं होता, और सामायिक इत्यादि कुछ यथार्थ नहीं होता। ऐसे पारिणामिकस्वभाव का बहुमान करना, उसे पहिचानना और उसकी रुचि करना, सम्यक्दर्शन का कारण है, वही धर्म है, वही मंगल है। इस प्रकार पहले पारिणामिकस्वभावभाव का बहुमान करके मंगलाचरण किया है।

ज्ञान कांड और कर्म कांड

सर्वज्ञदेव के शासन के अतिरिक्त अन्य किसी मत में इन पाँच भावों का स्वरूप नहीं है। इन पाँच भावों को भलीभाँति जाने तो अनेक प्रकार की मिथ्यामान्यताऐं दूर हो जायें।

औदयिकभाव—शुभाशुभकर्म के उदय से आत्मा में जो विकारी भाव होते हैं, सो औदयिकभाव है। 'कर्म के उदय से होते हैं' यह परिभाषा निमित्त की है; वास्तव में तो अपने सहज चैतन्यभाव से च्युत होकर आत्मा जो विकार भाव करता है, सो औदयिकभाव है, और उस समय कर्म की दशा उदयरूप होती है, सो निमित्त है। अपने वीतरागी आनन्दस्वभाव की जो श्रद्धा-ज्ञान एकाग्रता है, सो ज्ञान कांड है, और उस स्वभाव को भूलकर जो शुभाशुभभाव करता है, सो कर्म कांड है। कर्म कांड, औदयिकभाव अर्थात् अधर्मभाव है और ज्ञान कांड, धर्मभाव है। दया, भक्ति, व्रत इत्यादि से सम्बद्ध शुभभाव औदयिकभाव हैं, उनसे कर्मबन्ध होता है, धर्म नहीं होता। उस दयादि के शुभभाव में जो धर्म मानता है, सो कर्म कांडी है अज्ञानी है। देह की क्रिया में धर्म माने तो वह जड़वादी स्थूल मिथ्यादृष्टि है। देह की क्रिया तो नहीं किन्तु आत्मा में जो दया, भक्ति के भाव होते हैं, वे भाव भी क्रियाकांड हैं और जो इस क्रियाकांड में धर्म मानता है, सो मिथ्या दृष्टि है। शुभ भाव और अशुभभाव दोनों क्रियाकांड हैं और वे दोनों औदयिकभाव हैं। अनादि काल से सभी जीवों के यह भाव होते हैं। वे कर्मरूप हैं; धर्मरूप नहीं अर्थात् उनसे बंध होता है, धर्म नहीं होता। इस प्रकार जो औदयिकभाव के स्वरूप को समझता है, वह पुण्य से कदापि धर्म नहीं मानता, और किसी भी शुभराग से आत्मा का लाभ होना नहीं मानता। आत्मस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप जो ज्ञान कांड (ज्ञान की क्रिया का समूह) है, उसके बिना धर्म नहीं होता। वीतरागी आनन्द से परिपूर्ण जो आत्मा का त्रैकालिक स्वभाव है, उसमें परिणमन करना, सो धर्म की क्रिया है। धर्म की क्रिया का अर्थ है, ज्ञान कांड और अधर्म की क्रिया का अर्थ है, क्रियाकांड।

अनादि काल से जीव के यह औदयिकभाव विद्यमान हैं, और उस भाव से रहित शुद्ध पारिणामिकस्वभाव भी अनादि काल से एकरूप है। यदि उस स्वभाव को जाने तो विकारी औदयिकभावों को अपना स्वरूप न माने और उसे अपना कर्तव्य न समझे। सर्व प्रथम जीव इस प्रकार जानता है, तब उसे औपशमिकभाव प्रगट होता है, वही धर्म का प्रारम्भ है।

पुण्य-पाप के औदयिकभावों से रहित आत्मा के स्वभावभाव की श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरतारूप जो ज्ञान-क्रिया है, सो धर्म है और वह मुक्ति का उपाय है। जितने प्रकार का पुण्य-पाप का राग है, सो सब कर्म कांड है, उसके द्वारा कर्म बंधता है, आत्मा के धर्म की पुष्टि नहीं होती। आत्मस्वभाव में राग की पुष्टि नहीं है, अर्थात् जिस भाव से राग की उत्पत्ति होती है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा का चैतन्यस्वभाव त्रिकाल निरालम्बी है, स्वयं सिद्ध है; उसे आगम का आधार नहीं है। आगम में आत्मा के स्वभाव को शुद्ध बताया है, इसलिये आत्मा ऐसा है-यह बात नहीं है, किन्तु आत्मा स्वयं अपने स्वभाव से सदा शुद्ध है, और जो स्वभाव है, उसी का आगम में वर्णन किया गया है। ऐसे चैतन्यस्वभाव का अवलम्बन लेकर जो भाव प्रगट होते हैं, सो धर्म है। सहज वीतरागी आनन्द से परिपूर्ण प्रचंड-अतिशय उग्र अखंड चैतन्यस्वभाव के सम्मुख होकर जो श्रद्धा, ज्ञान भाव प्रगट हुआ, उसे ज्ञान कांड अथवा धर्म की क्रिया कहते हैं। औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक-यह तीनों भाव धर्मरूप हैं। (ज्ञान का क्षयोपशमभाव अनादि से सभी जीवों के है, परन्तु मिथ्यात्व के कारण से वह क्षयोपशमभाव धर्म का कारण नहीं है। सम्यक्दर्शनपूर्वक ज्ञान का जो क्षयोपशम होता है, उसे सम्यक्ज्ञान कहते हैं, वह धर्मरूप है।)

शरीर, मन, वाणी की क्रिया जड़ की क्रिया है, उस में आत्मा का धर्म और अधर्म कुछ भी नहीं है। पुण्य और पाप, कर्म कांड है, राग की क्रिया का समूह है। ज्ञानी के वह भाव विद्यमान भले ही हो किन्तु ज्ञानी उसे अशुद्धभाव मानता है, उससे आत्मा का धर्म नहीं मानता, इसलिये उस राग के समय भी ज्ञानी तो सच्ची श्रद्धा और ज्ञानरूप ज्ञान काण्ड ही कर्ता है अर्थात् वह धर्मी है। और अज्ञानी जीव आत्मा के शुद्धभाव को नहीं जानता किन्तु वह यह मानता है कि रागादिक कर्म कांड से आत्मा का धर्म होता है, इसलिये वह अधर्मी है। वह ज्ञान काण्ड को नहीं जानता किन्तु कर्म काण्ड का ही कर्ता होता है।

आत्मा ज्ञानस्वभाव की मूर्ति है; ज्ञान के अतिरिक्त जो ऐसी वृत्ति उठती है कि 'कुछ करूँ', सो क्रिया काण्ड है, उसमें धर्म का भाव नहीं है। यदि इस प्रकार स्वभावभाव को और विभावभाव

को पहिचाने तो अपने परम स्वभाव की रुचि करके, विभावभावों को हेय समझकर उसे छोड़ दे। किन्तु यदि स्वभाव क्या है और विभाव क्या है–इस का भेदविज्ञान ही न हो तो जीव किसकी रुचि करेगा ? और किसे छोड़ेगा ? त्रिकाल आत्मस्वभाव को पहिचान कर जो अन्तर्मुखी ज्ञान–क्रिया प्रगट होती है, सो ज्ञान कांड है। ऐसे स्वभाव की भावना से रहित अज्ञानी जीव, मन–वचन–काय के लक्ष से रागादिक क्रिया कांडरूप परिणमित होते हैं और उसमें धर्म मानते हैं। यही औदयिकभाव है, और वह अधर्म है।

ज्ञान काण्ड और कर्म काण्ड भिन्न हैं। यद्यपि धर्म में भी क्रिया–काण्ड होता है, किन्तु यह जान लेना चाहिये कि वह ज्ञानरूपी क्रियाकाण्ड होता है या कर्मरूपी ? आत्मस्वभाव का परिचय–श्रद्धा और स्थिरता, ज्ञान का क्रियाकाण्ड है। यह ज्ञानरूपी क्रियाकाण्ड धर्म में होता है। परन्तु अज्ञानीजन उस अन्तरंग क्रिया को नहीं पहचानते, इसलिये वे शरीरादि की क्रिया को धार्मिक क्रियाकाण्ड मान लेते हैं, और रागादि कर्मकाण्ड के द्वारा धर्म का होना मानते हैं। उनकी यह मान्यता मिथ्या है। जिसे अपनी मानी हुई क्रिया का आग्रह है, ऐसा अज्ञानी कहता है कि–सत्य को समझने के बाद तो धर्म में हमारी क्रिया आयेगी ही न ? ज्ञानी कहते हैं कि—हे भाई ! धर्म में तेरे द्वारा मानी गई क्रिया तो कदापि नहीं आयेगी। समझने के बाद भी जो व्रतादि की क्रिया होगी, वह तेरी मानी हुई नहीं होगी। तूने जितनी क्रियाओं में धर्म मान रखा है, वे सब जड़ की क्रियायें हैं और विकारी क्रियायें (कर्मकाण्ड) हैं। उनमें कहीं भी धर्म नहीं है। जिसे धर्म की प्रतीति नहीं है और जिसे यह प्रतीति नहीं है कि आत्मा कौन है या क्या है, उसे धर्म की क्रिया का स्वरूप कहाँ से ज्ञात हो सकता है ?

स्वच्छन्दता और पात्रता

जो ज्ञानी से धर्म की बात सुनकर स्वीकार नहीं करता और उल्टा कहता है कि आप जिस प्रकार कहते हैं, वैसा यदि शास्त्र में बताओ तो मानूँ। इस प्रकार जो ज्ञानी के आत्मा की सीधी बात को स्वीकार नहीं करता, और शास्त्राधार माँगता है, वह स्वच्छन्दी है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि ज्ञानी जो कुछ भी कहे, उसे समझे बिना ही हाँ जी हाँ कह दिया जाय; किन्तु ज्ञानी की आत्मा के पास से सीधा–स्पष्ट सत् सुनकर जो निर्णय नहीं कर सकता, वह शास्त्राधार से क्यों–कर निर्णय कर सकेगा ? इसलिये पहले तो ज्ञानी से ही सत् को समझना चाहिये। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को सम्यग्दर्शन होने में मात्र शास्त्र का निमित्त नहीं होता, किन्तु साक्षात् सत्पुरुष का ही निमित्त होता है, ऐसा नियम है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने एक बार एक 'मुनि' को डाटते हुये कहा था कि कहीं ऐसी मुनिदशा होती है ? मुनि का वेष रख कर भी क्या इतना परिग्रह हो सकता है ? क्या यही आपकी मुनिदशा है ?

उस समय उस मुनि को श्रीमद् राजचंद्रजी के प्रति बहुमान था और अपने में पात्रता थी; इसलिये उनकी बात के प्रति विरोध जागृत नहीं हुआ, प्रत्युत अर्पणता जाग उठी, और उनने कहा कि प्रभु ! हम न तो साधु हैं और न मुनि, हम तो मात्र दम्भी हैं।

बस, श्रीमद् ने जान लिया कि यह पुरुष पात्र है, इसके स्वछंदता नहीं किन्तु अर्पणता है, यह सत् को सरल भाव से स्वीकार कर रहा है; और तत्काल ही पुनः उस मुनि से कहा कि–नहीं, नहीं, आप मुनि हैं !

यह सब देखकर अज्ञानी लोगों को आश्चर्य हो सकता है कि अभी ही तो मुनि होने से इन्कार किया और अब कहते हैं कि हाँ, आप मुनि हैं ! इस प्रकार दो तरह की बातें सुनकर अज्ञानी द्विविधा में पड़ जाता है; वह ज्ञानी के हृदय को नहीं जानता। साम्प्रदायक ममता और हठवाले जीव तो ऐसी बात को सुनकर और अधिक बिचक जाते हैं कि अरे ! इस वस्त्रधारी पुरुष को मुनि कैसे कह दिया ? किन्तु हे भाई ! तू विचार तो कर कि ज्ञानी जन किसी आशय से ही तो ऐसा कहते होंगे। पहले परीक्षा की और तत्काल ही अंतरंग से हाँ कहकर सत् को स्वीकार कर लिया और कह दिया कि मैं मुनि नहीं हूँ। बस, इस सत् की स्वीकृति को देखकर उसे नैगमनय से मुनि कह दिया। सत् से भेंट होते ही सत् को स्वीकार कर लिया, इसलिये भविष्य में मुनिदशा की पात्रता देखकर मुनि कह दिया। यद्यपि उन्हें यह ध्यान है कि सवस्त्र मुनिदशा नहीं होती और वर्तमान में यह मुनि नहीं है; किन्तु साथ ही उन्हें यह भी ध्यान आ गया कि यह जीव भविष्य में इसी भव में या एक दो भव के बाद अवश्य ही मुनिदशा को प्राप्त करेगा–इसमें ऐसी पात्रता है।

'अपूर्व अवसर' नामक काव्य में स्वयं ही कहा है कि, 'मात्र देह ही संयम हेतुक होय जो.....' अर्थात् ऐसी मुनिदशा कब प्राप्त होगी कि जब एक मात्र शरीर ही संयम हेतुक होगा। शरीर के अतिरिक्त वस्त्रादिक कुछ भी न होंगे। वहाँ तो ऐसा कहा है और यहाँ उस व्यक्ति को सवस्त्र होते हुऐ भी मुनि कह दिया है। किन्तु ऐसा कहने की अपेक्षा ही भिन्न है। प्रस्तुत व्यक्ति ने तत्काल ही स्वच्छंदता का त्याग करके अर्पणता प्रगट कर दी है, इसलिये उसमें पात्रता देख कर और आंशिक प्रारम्भ देख कर नैगमनय से उसे मुनि कह दिया है। एक–दो भव में वह मुनिदशा प्रगट कर लेगा।

क्रियाकाण्ड की प्रधानता से देखनेवाले यह देख कर बिचक जाते हैं। किन्तु यदि शांत होकर समझना चाहे तो ज्ञानी के अंतरंग की गनहता समझ में आती है। ज्ञानी के हृदय के एक अंश को भी ग्रहण कर ले तो तब उसकी सत् बात समझ में आती है। स्वभाव को जाने बिना जो क्रियाकाण्ड होता है, सो अधर्म है।

हे जीव! यह याद रख कि अपने शुद्धस्वभाव को जाने बिना तू जितने क्रियाकाण्ड करता है, वे सब अधर्म हैं, उससे तेरी आत्मा का किंचित्मात्र भी हित होनेवाला नहीं है, क्रियाकाण्ड से आठ कर्मों का बंध होता है। तू चाहे जैसे पुण्यभाव करे तो उससे भी मोह इत्यादि कर्मों का बन्ध होगा। इसलिये तू विचार कर कि मुक्ति का मार्ग इस क्रियाकांड से भिन्न है।

औदयिकभाव कर्मोदय ने नहीं कराया है

रागादिक औदयिकभाव को जीवगुण कहा है, अर्थात् वे भाव, जीव की पर्याय हैं। रागादिक जीव के भाव होने पर भी, कर्म के उदय से होते हैं-ऐसा कहा है। उसमें यह बताने का आशय है कि जीव के औदयिकभाव के समय कर्म का उदय निमित्तरूप था, इसलिये व्यवहार से कहा जाता है कि उस कर्म के उदय से जीव में औदयिकभाव हुआ है किन्तु वास्तव में वह भाव, जीव ने स्वयं किया है, कर्म ने उसे नहीं कराया। कर्म तो निमित्त है। निमित्त का अर्थ है पर; और पर की अपेक्षा से कथन करना, सो व्यवहार है, ऐसा यहाँ समझना चाहिये। जो औदयिकभाव है, सो बन्धभाव है, अधर्म है, विकार है, त्याज्य है। अपना पारिणामिक जीव स्वभाव त्रिकाल है, वर्तमान भी ऐसा का ऐसा स्थित है, इसकी पहिचान, महिमा और एकाग्रता करने से वह उदय भाव दूर हो जाता है।

औदयिकभाव और धर्मभाव

यहाँ यह कहा है कि—जो शुभ और अशुभपरिणाम हैं, वे सब औदयिकभाव हैं, उन से धर्म नहीं होता। यह सुनकर कोई अज्ञानी यह मानता है कि जो जीव ज्ञानी होता है, उसके शुभ-अशुभपरिणाम नहीं होते और यदि शुभाशुभपरिणाम हों तो वह ज्ञानी नहीं है। किन्तु उसकी यह मान्यता मिथ्या है। यदि ऐसा हो, तब तो मात्र वीतरागी जीवों को ही धर्मात्मा कहा जायेगा, और अन्य किसी भी-चौथे, पाँचवें, छठ्ठे इत्यादि गुणस्थानवाले जीव को धर्मात्मा नहीं कहा जा सकेगा। किन्तु भाई! शुभभाव तो मुनि के भी होते हैं, और क्वचित् अशुभभाव भी होते हैं, तथापि उस शुभाशुभभाव के समय भी श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र धर्म उनके विद्यमान होता है। तथापि उनके जो राग

है, वह कदापि धर्म नहीं है; राग सदा अधर्म ही है। जो राग को धर्म मानता है और यह मानता है कि राग करते-करते धर्म होगा तो वह मिथ्यादृष्टि है, उसके धर्म नहीं है। धर्मात्मा के राग होने पर भी, वे उस राग को धर्म नहीं मानते, इसलिये सम्यक्दृष्टि धर्मात्मा के अशुभराग के समय भी श्रद्धा-ज्ञानरूपी धर्म होता है। जीव चाहे जैसी शुभक्रिया करे, वह औदयिकभाव है, अधर्म है; और उस भाव से यदि स्वयं आत्महित माने तो वह मिथ्यात्वरूपी महापाप को पुष्ट करके संसार में परिभ्रमण करता है। सम्यक्दृष्टि मुनि के भी जितना शुभराग है, उतना औदयिकभाव है—किन्तु धर्मभाव नहीं है।

पाँच भावों का वर्णन सनातन जैनमत में ही है

निम्न भूमिका में साधक जीव के व्रतादि का शुभराग हो, यह बात अलग है, किन्तु अज्ञानी उसे धर्म मानते हैं। जिन व्रतादि शुभभावों को सर्वज्ञ वीतराग देव, औदयिकभाव कहते हैं, उन्हें अज्ञानी, धर्मभाव बताते हैं। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने पाँच भावों का वर्णन किया है, और उनके शिष्य श्री उमास्वामी आचार्यदेव ने मोक्षशास्त्र के दूसरे अध्याय के प्रथम सूत्र में उन्हीं पाँच भावों का वर्णन किया है। अन्य किसी भी मत में इन पाँच भावों का वर्णन नहीं है।

धर्म में पहले कौन सा भाव प्रगट होता है ?

मोक्षशास्त्र में पहले औपशमिकभाव का वर्णन है क्योंकि अनादि कालीन अज्ञानी जीव के धर्म करने पर सर्व प्रथम औपशमिकभाव प्रगट होता है। अनादि कालीन अज्ञानदशा को छुड़ाकर धर्मदशा प्रगट कराने के लिये वही भाव सबसे पहले रखा है। जैसे शान्त पानी में मल नीचे दब जाता है, इसी प्रकार अनादि कालीन अज्ञानी जीव जब चैतन्यस्वभाव की ओर उन्मुख होता है, तब उसके मिथ्यात्वादि का मोहभाव दब जाता है, उसे औपशमिक सम्यक्दर्शन कहते हैं। अनादि कालीन अज्ञानी जीव के पहले दर्शनमोह का उपशम होता है। इस औपशमिकभाव का पुरुषार्थ बताने के लिये मोक्षशास्त्र में पहले उसका वर्णन है। जो जीव यह औपशमिकभाव प्रगट करता है, वही औदयिक इत्यादि भावों को यथार्थतया जानता है। यहाँ पाँच भावों का ज्ञान कराना है, इसलिये औदयिक इत्यादि भावों का क्रमशः वर्णन किया है। पहले औदयिकभाव का वर्णन करते हुऐ कहा है कि जो भाव, कर्म के उदय से होता है, सो औदयिकभाव है, अर्थात् आत्मा के जिस भाव के समय कर्म का क्षय या उपशम नहीं होता किन्तु उदय होता है-ऐसा विकारी भाव, औदयिकभाव है। इस औदयिकभाव के आश्रय से धर्म नहीं होता।

कौन से भाव बन्ध के कारण हैं और कौन से मोक्ष के ?

जिस भाव से तीर्थंकरनामकर्म का बंध होता है, वह कौन सा भाव होगा ? जिस भाव से

तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है, वह भी औदयिकभाव ही है। औदयिकभाव ही बन्ध का कारण है, दूसरा कोई भाव, बन्ध का कारण नहीं है। औपशमिकभाव और सम्यक्दृष्टि का क्षायोपशमिक भाव-दोनों मोक्षमार्गरूप हैं, अर्थात् मोक्ष का कारण हैं; क्षायिकभाव मोक्षरूप है, अर्थात् जिस गुण का क्षायिकभाव प्रगट होता है, उस गुण की अपेक्षा से मोक्ष हुआ कहलाता है। जैसे क्षायिक सम्यक्दर्शन के प्रगट होने पर श्रद्धा-गुण का क्षायिकभाव प्रगट हुआ है अर्थात् श्रद्धा-गुण की अपेक्षा से मोक्ष है। और समस्त गुणों की सम्पूर्ण अविकारी दशा प्रगट होने पर, द्रव्य मोक्ष होता है; पारिणामिकभाव, बन्ध-मोक्ष की अपेक्षा से रहित त्रिकाल एकरूप है, यह बन्ध-मोक्ष का कारण नहीं है। परन्तु उस पारिणामिक स्वभाव के लक्ष से मोक्ष प्रगट होता है और उसका लक्ष चूकने से बन्ध भाव प्रगट होता है।

तीर्थंकर नामकर्म की कारणरूप सोलह भावनाओं का क्रम

तीर्थंकर नाम कर्म का आस्रव होने में कारणरूप जो सोलह भावनाऐं हैं, उनमें सबसे पहली दर्शन-विशुद्धि भावना है। उसकी जगह कोई जीव अर्हत् भक्ति को पहले मानते हैं, उनकी दृष्टि विपरीत है; इसलिये वह पर की ओर से प्रारम्भ करते हैं और 'दर्शन विशुद्धि' में स्वभाव की ओर से प्रारम्भ होता है।

तीर्थंकर नामकर्म के भाव का स्वरूप

तीर्थंकर नाम कर्म जड़ है, किन्तु जिस शुभभाव से वह बंधता है, वह औदयिकभाव है। उसे जो धर्म मानता है अथवा धर्म का कारण मानता है, वह अधर्मात्मा है; उसे पाँच भावों के स्वरूप का ज्ञान नहीं है, इसलिये वह बंध भावों को आदरणीय मानता है। जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है, वह भला धर्म भाव हो सकता है ? ओह ! इस बात से तो अज्ञानी जीव का हृदय कांप उठता है। कई वर्ष पूर्व एक बार जब भर सभा में यह बात कही गई, तब एक श्रोता क्रुद्ध और अशान्त होकर सभा में से उठ खड़े हुऐ और सभा छोड़कर चले गये। उनसे यह बात सहन नहीं हुई, फिर वह इसे समझे तो कहाँ से ? आज तो बहुत से जिज्ञासु इस बात को समझने लगे हैं। जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है, उस भाव को पुण्यभाव कहो, औदयिकभाव कहो, बन्धभाव कहो या अधर्मभाव कहो-इनमें कोई अन्तर नहीं है।

चैतन्य के लक्ष से विकार का नाश और कर्म के लक्ष से उत्पत्ति

प्रश्न—औदयिकभाव की यह परिभाषा की गई है कि कर्म के उदय से अर्थात् कर्म के लक्ष

से जो शुभाशुभ भाव होते हैं वे औदयिक भाव हैं। परन्तु अज्ञानी जीव, कर्म को नहीं देख सकता, तब फिर उसने कर्म का लक्ष कैसे किया ?

उत्तर—जिसकी दृष्टि अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत है, उसकी दृष्टि कहीं अन्यत्र अटक रही है। अज्ञानी को विकाररहित स्वभाव का लक्ष नहीं होता; इसलिये कर्म के उदय से विकार होता है, ऐसी उसकी विपरीत मान्यता है, इसलिये उसे विकार हुऐ बिना नहीं रहेगा। अपने चैतन्यस्वभाव के लक्ष में बना रहूं तो विकार की उत्पत्ति ही न हो, ऐसी स्वभावदृष्टि करने की जगह विपरीत दृष्टि करता है कि कर्म का उदय है; इसलिये विकार अवश्य होगा। यह विपरीत दृष्टि ही विकार की उत्पत्ति की जड़ है। स्वभाव का लक्ष नहीं है; इसलिये विकारभाव होता है और उस विकार भाव में कर्म निमित्त है, इसलिये कर्म के लक्ष से ही विकार होता है–ऐसा कह दिया है। मिथ्यादृष्टि जीव कर्म को देखता है–ऐसा कहने का तात्पर्य नहीं है, परन्तु विकार के निमित्त का ज्ञान कराने के लिये वह कथन है। मिथ्यादृष्टि भले ही कर्म के उदय को न देखे परन्तु 'कर्म के उदय से मिथ्यात्व होता है' ऐसा उसका विपरीत अभिप्राय है, इसीलिये उसके प्रतिक्षण मिथ्यात्व भाव होता ही रहता है। मेरे आत्मस्वभाव में किसी प्रकार का विकार भाव नहीं है और इस स्वभाव के लक्ष से विकार की उत्पत्ति नहीं होती–इस प्रकार यदि स्वभावदृष्टि करे तो मिथ्यात्व की उत्पत्ति न हो। 'नंदिषेण, आर्द्रकुमार, इत्यादि बड़े-बड़े मुनियों को भी कर्म के तीव्र उदय ने गिरा दिया था' यों कहकर जो जीव, कर्म का बल मानते हैं, उन जीवों के विपरीत अभिप्राय में से प्रतिक्षण विकार भाव की उत्पत्ति होती है।

जो यह मानता है कि कर्म के उदयानुसार विकार होते रहते हैं, उसे स्वभाव की ओर देखना ही कहाँ रहा ? विकार मैं करता हूँ और अपने स्वभाव भाव में रहकर मैं ही उसे दूर करता हूँ–ऐसा वह नहीं मानता, इसलिये स्वभाव की ओर उसका पुरुषार्थ ही नहीं जायेगा। उसका अभिप्राय ही चैतन्य का लक्ष चूककर कर्म के लक्षवाला है। वह स्वभाव की शुद्धता का लक्ष चूक गया है; इसलिये उसके प्रतिक्षण औदयिकभाव की ही उत्पत्ति होती है। और जो जीव, पारिणामिक चैतन्य स्वभाव के लक्ष से स्थिर है, उसे यह श्रद्धा है कि मेरा स्वभाव शुद्ध है; विकार का अंश भी मेरे स्वभाव में नहीं है, उसके ऐसे अभिप्राय में प्रतिक्षण निर्मलता की उत्पत्ति और विकार का नाश है।

कर्म का उदय हो तो उसके निमित्त से विकार हो, इस प्रकार जिसने कर्म को निमित्त के रूप में स्वीकार किया, उसने नैमित्तिकरूप में अपने विकारी भाव को माना है, अर्थात् उसने अपनी

योग्यता विकाररूप ही होने की मानी है। उसने अपनी भूल को स्थिर रखा है और उस भूल से हटकर वह स्वभाव में स्थिर नहीं हुआ। यदि स्वभाव में स्थिर हो जाये तो भूल न रहे और कर्म को निमितत न कहा जाये।

पारिणामिकभाव

सत् समागम से स्वभाव की बात सुनकर जो पात्र होकर भूल को स्वीकार करता है, वह भूल को दूर किये बिना नहीं रहता। मेरा स्वभाव विकार रहित पारिणामिक एकरूप है, उस पारिणामिक-स्वभाव की रुचि में मैं स्थिर नहीं रह सकता, यह पुरुषार्थ की कचाई है, यह मेरी भूल है-इस प्रकार जो अपने पारिणामिक स्वभाव की महिम को जानकर पात्रता से स्वीकार करता है, उसकी भूल अल्पकाल में ही दूर हुऐ बिना नहीं रहेगी।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

शंका-समाधान

१-शंका—त्याग जैनधर्म है या नहीं ?

समाधान—सम्यक्दर्शनपूर्वक जितने अंश में वीतरागभाव प्रगट होता है, उतने अंश में कषायों का त्याग होता है, उसे धर्म कहा जाता है। सम्यक्दर्शनादि अस्तिरूप धर्म है, और मिथ्यात्व तथा कषाय का त्याग, नास्तिरूप धर्म है। किन्तु सम्यक्दर्शन से रहित त्याग से धर्म नहीं होता। यदि मन्द कषाय हो तो पुण्य होता है।

मिथ्या दृष्टि के सम्यक् श्रुतज्ञान कदापि नहीं होता, इसलिये उसके नय होता ही नहीं है। श्री पंचास्तिकाय की १६८ वीं गाथा की श्री जयसेनाचार्य कृत संस्कृत टीका में कहा है कि-मिथ्यादृष्टि का शुभराग समस्त अनर्थ का परंपरा कारण है। इसलिये मिथ्यादृष्टि का शुभराग, धर्म या धर्म का परंपरा कारण नहीं हो सकता।

मिथ्यादृष्टि या सम्यक्दृष्टि-किसी के लिये भी शुभराग धर्म नहीं है, किन्तु सम्यक्दृष्टि के अभिप्राय में उस राग का नकार पाया जाता है, इसलिये उपचार से उसे व्यवहार धर्म कहा है। इस सम्बन्ध में नय विभाग को लक्ष में रखकर 'आत्मधर्म' में इस प्रकार कहा है—

निश्चयधर्म तो आत्मा के निर्विकारस्वभाव को पहिचानकर स्थिर हो जाना है, परन्तु जब तक सम्पूर्ण स्थिरता नहीं हो सकती, तब तक कुदेवादि के तरफ के अशुभ पापभाव से बचने के लिये भक्ति आदि का शुभराग आता है, और ज्ञानी के अभिप्राय में उस राग का नकार रहता है,

इसलिये उपचार से व्यवहार धर्म कहा जाता है। परन्तु जिसने उस राग में ही धर्म मान रखा है और राग को ही आदरणीय माना है, उसके धर्म तो नहीं है परन्तु अपने वीतरागस्वभाव के अनादररूप मिथ्यात्व का अनन्त पाप क्षण-क्षण में उसकी विपरीत मान्यता से होता है। राग को अपना धर्म मानना, सो अपने वीतरागस्वभाव का अनादर है, वह महान पाप है। यदि पर की कोई भी क्रिया मैं कर सकता हूँ अथवा पुण्य से मेरे स्वभाव को लाभ होता है-ऐसा माने तो वह मिथ्यादृष्टि है, वह क्रियाकांड करके और त्याग करके मर जाये तो भी वह साधु नहीं है, त्यागी नहीं है, श्रावक नहीं है, जैन नहीं है। [आत्मधर्म, अंक २३, पृष्ठ १६७]

और इसी लेख में 'धर्मीपना किस कारण से है' शीर्षक के नीचे यह बताया है कि-आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान के बिना कोई बाह्य त्यागी हो और 'एक परमाणु का फेरफार भी मुझसे होता है' इस प्रकार माने तो जैन का साधु कहलाने पर भी वह मिथ्यादृष्टि है, अज्ञानी है, जैन नहीं है। जो यह मानता है कि शरीर को मैं चला सकता हूँ तथा जीव और शरीर को एक मानता है, वह जैनमत से बाहर है। [आत्मधर्म, अंक २२, पृष्ठ १६६]

जहाँ सम्यक्दर्शन-ज्ञान होता है, वहाँ अनन्तानुबन्धी आदि कषायों का सच्चा त्याग और वैराग्य गुणस्थानानुसार होता ही है, और यह त्याग ही धर्म है। किन्तु सम्यक्दर्शनरहित त्याग किसी भी नय से धर्म नहीं है, क्योंकि सम्यक्दर्शन के बिना सच्चा त्याग कदापि नहीं होता। इसलिये मिथ्यादृष्टि के नयविभाग नहीं हो सकता। इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि शुभभाव छोड़कर अशुभभाव किये जायें। किन्तु जो शुभभाव होते हैं, वे धर्म नहीं हैं, लेकिन जो वीतरागभाव हैं, सो ही धर्म हैं। ऐसी मान्यता करना, सो इस कथन का प्रयाजन है; अर्थात् यहाँ पहले मान्यता को बदलने की बात है।

सम्यक्दर्शन-ज्ञान के बिना सागार या अनगार-एक भी धर्म नहीं होता। सम्यक्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान से होता है, सागार धर्म पाँचवें गुणस्थान में होता है, और अनगार धर्म छठ्ठे गुणस्थान से होता है।

२-शंका—क्रोधादि भावों को पारिणामिकभाव कहने में क्या कोई शास्त्राधार है ?

समाधान—क्रोधादिक भाव किस अपेक्षा से पारिणामिक हैं, और किस अपेक्षा से औदयिक हैं, यह पहले (आत्मधर्म हिन्दी अंक ३०, पृष्ठ १२५ में) स्पष्टतया बताया गया है।

क्रोधादि विकारी भाव, पारिणामिकभाव हैं, ऐसा श्री जयधवला टीका पृष्ठ ३१९ में तथा श्री धवला टीका भाग ५ पृष्ठ १९७ में कहा है। और कर्म के उदय की अपेक्षा का ज्ञान कराने के लिये क्रोधादि को औदयिकभाव कहा गया है। इस अपेक्षा से तत्वार्थसूत्र में उसे औदयिकभाव कहा है।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न अपेक्षा से जीव के विकारी भावों को पारिणामिक तथा औदयिक दोनों प्रकार से कहा जाता है। विकारी भाव जीव की अपनी योग्यता से होते हैं, निश्चय से कोई पर उसका कारण नहीं है, इसलिये वह निष्कारण है, और इसलिये वह पारिणामिक है। और व्यवहार से कर्म के उदय को उसका उपचार कारण मानकर उसे औदयिकभाव कहा जाता है।

३-शंका—क्या यह मान्यता ठीक है कि द्रव्य ही उपादानकारण हो सकता है, पर्याय नहीं?

समाधान—नहीं, यह मान्यता ठीक नहीं है। यह ठीक है कि द्रव्यार्थिकनय से उपादान कारण द्रव्य है, क्योंकि प्रत्येक पर्याय, द्रव्य और गुण का ही परिणमन है। वह इतना बतलाता है कि यह पर्याय इस द्रव्य की है। जैसे-मिट्टी में सदा घड़ा बनने की योग्यता है, ऐसा द्रव्यार्थिकनय से कहा जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि—मिट्टी का घड़ा मिट्टी में से ही हो सकता है, अन्य द्रव्य में से नहीं। किन्तु पर्यायार्थिकनय से अर्थात् जब पर्याय की योग्यता बतानी हो, तब प्रत्येक समय की पर्याय की योग्यता, वह उपादानकारण है, और वह पर्याय स्वयं कार्य है। यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाये तो कारण-कार्य एक ही समय होता है। (देखिये-तत्वार्थसार मोक्ष अधिकार गाथा ३५ और उसका अर्थ पृष्ठ ४०७)

इसका अर्थ यह है कि-प्रति समय प्रत्येक द्रव्य में एक ही पर्याय होने की योग्यता होती है, किन्तु उससे पूर्व के समय की या पीछे की पर्याय में वह योग्यता नहीं होती। यह कथन पर्यायार्थिकनय से समझना चाहिये।

इस सम्बन्ध में श्री प्रवचनसार अध्याय २ गाथा ७ की श्री अमृतचंद्राचार्य कृत टीका देखनी चाहिये, वह बहुत उपयोगी है। उसमें भी अन्तिम चार पंक्तियाँ (पृष्ठ १३५-६) विशेष अभ्यास करने योग्य हैं। उनमें कहा गया है कि—

''तथैव हि परिगृहीतनित्यवृत्तिनिवर्तमाने द्रव्ये समस्तेष्वपि स्वावसरेपूच्चकासत्सु परिणामेषूत्तरेत्तरेष्ववसरेपूत्तरोत्तरपरिणामानुदयानात्पूर्वपूर्वपरिणामानामनुदयनात् सर्वत्रापि परस्परानुसयूतिसूत्रकस्य प्रवाहस्यावस्थानात्त्रैलक्षणं प्रसिद्धिभवतरति॥''

इसका अर्थ यह है कि-जिसने नित्यवृत्ति ग्रहण की है, ऐसे निवर्तमान (परिणमित होते हुऐ) द्रव्य में, अपने-अपने अवसरों में प्रकाशित (प्रगट) होते हुऐ समस्त परिणामों में उत्तरोत्तर अवसरों पर उत्तरोत्तर परिणामों के प्रगट होने से और पूर्व-पूर्व के परिणाम प्रगट न होने से तथा सर्वद्व परस्पर अनुस्यूति का रचयिता प्रवाह अवस्थित होने से त्रिलक्षणता प्रसिद्धि को प्राप्त होती है।

इसके अतिरिक्त श्री प्रवचनसार (अध्याय १ गाथा ८ की संस्कृत टीका, पृष्ठ १०) में श्री

जयसेनाचार्य ने कहा है कि—

''तच्च पुनरुपादानकारणंशुद्धाशुद्धभेदेनद्विधा रागादिविकल्परहितस्वसंवेदनज्ञानमागम-भाषया शुक्लध्यानं वा केवलज्ञानोत्पत्तौ शुद्धोपादानकारणं भवति। अशुद्धात्मातु रागादिना अशुद्ध-निश्चयेनाशुद्धोपादानकारणं भवतीति सूत्रार्थः॥''

इसका अर्थ यह है कि और फिर वह उपादानकारण भी शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो प्रकार का है। रागादि विकल्परहित स्वसंवेदनज्ञान अथवा आगमभाषा में शुक्लध्यान केवलज्ञान की उत्पत्ति में शुद्ध उपादानकारण है। और रागादिरूप परिणमित होता हुआ अशुद्ध आत्मा अशुद्ध निश्चयनय से अशुद्ध उपादान कारण है। इस प्रकार सूत्रार्थ है।

यहाँ शुद्ध पर्याय को और अशुद्ध पर्याय को—दोनों को उपादान कारण कहा है।

श्री समयसार गाथा १०२ की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि—

''हे भगवन् रागादीनाम शुद्धोपादानरूपेण कर्तृत्वं भणितं तुदपादानं शुद्धाशुद्धभेदेन कथं द्विधा भवतीति। तत्कथ्यते। औपाधिकमुपादानम्शुद्धं तप्तायः पिंडवत्, निरुपाधिरूपमुपादानं शुद्धं पीतत्वादिगुणानां सुवर्णवत् अनंत ज्ञानादिगुणानां सिद्धजीववत्, उष्णत्वादि गुणानामग्निवत्। इदं व्याख्यानमुपादानकारण व्याख्यानकाले शुद्धाशुद्धोपादानरूपेण सर्वत्र स्मरणीयमिति भावार्थः॥''

अर्थ—यहाँ शिष्य पूछता है कि-हे भगवन्! जीव को अशुद्ध उपादानरूप से रागादि का कर्ता कहा है, सो वह उपादान शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो प्रकार का कैसे है? श्री गुरु उसका उत्तर देते हैं कि-तपे हुये लोहे के गोले की भाँति जो औपाधिक उपादान है, सो अशुद्ध उपादान है, और जैसे सोने में पीलापन इत्यादि गुण हैं, सिद्ध जीव में अनन्त ज्ञानादि गुण हैं तथा अग्नि में उष्णता इत्यादि गुण हैं, इसी प्रकार जो निरुपाधि भावरूप उपादान है, सो शुद्ध उपादान है। उपादानकारण की व्याख्या के समय इस व्याख्यान को, शुद्ध और अशुद्ध उपादानरूप से सर्वत्र स्मरण करना चाहिये, यह भावार्थ है।

यहाँ आचार्य देव ने शुद्ध और अशुद्ध पर्याय को उपादानकारण कहा है, और सर्वत्र इसी प्रकार समझने को कहा है।

इसी प्रकार शुद्ध उपादान और अशुद्ध उपादानकारण की व्याख्या समयसार गाथा ८०-८१-८२ की श्री जयसेनाचार्य कृत टीका में भी की गई है, वहाँ से विशेष ज्ञात कर लेना चाहिये।

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दास कुंज, मोटा आंकडिया ता.१५-०२-४८
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड